उद्बोधन

(पंचदश सर्ग)

जब रहे निरत द्रोणाङ्गज, उस अरतिद[1] चिन्तन में ।
तब आया आत्म निघात, विचार यकायक मन में ।
संकल्प क्रियान्वित करने को कर था आदेशित ।
मन बुद्धि शरीर सभी थे, उस क्षण अति आवेशित ।।०१।।

तब सहसा गुञ्जित हुई, गिरा गम्भीर गगन में ।
तुम एक मात्र हो कुसुम, धरा के गत उपवन में ।
शुभ हो प्रतीक एकाकी, सर्जन के जीवन के ।
सब त्यागो क्लीव विचार, निराशा-मज्जित मन के ।।०२।।

क्यों डाल रहे हो विघ्न, सृष्टि के पावन क्रम में ।
है डोल रही निष्ठा क्यों, द्रोण - तनय विक्रम में ।
हे आयति-आशा-सार, मूल्य अपना पहचानो ।
संयोग न अपनी, चिरंजीविता को तुम मानो ।।०३।।

विस्मित थे अति अश्वत्थामा, नभ ओर निहारा ।
इस वाणी का क्या स्त्रोत, पुनः मन वीच विचारा ।
परिचित सा स्वर लग रहा, कि मैं हो रहा प्रवञ्चित ।
मानस के गहन नितल, में कुछ-कुछ स्मृति सी सञ्चित ।।०४।।

रोला छन्द

अतल शून्य का मौन तोड़ते, कौन कहाँ तुम ।
दया करो कुछ और, न होना मौन यहाँ तुम ।
नव जीवन संचार करो, फिर से तो वोलो ।
तृषित युगों से श्रवण, अहा अमृत फिर घोलो ।।०५।।

सिन्धुवीचि[२] गर्जना, घोर चीत्कार पवन का ।
करता था बस भंग, शून्य इस विपुल विजन का ।
कभी मेघ निर्घोष, उद्वमन ज्वालामुख का ।
उल्का का भी शब्द, स्रोत लगता था सुख का ।।०६।।

निरवधि[३] शासन रहा, आज तक नीरवंता का ।
उमड़ रहा है सिंधु, आज बस आतुरता का ।
सह्य नहीं अब शून्य, नहीं है बची तितिक्षा ।
इस अघकृत[४] की ओर, न लेना प्रभो परीक्षा ।।०७।।

मत पहचानो शब्द, न वक्ता को तुम जानो ।
लोकभूति निज श्रेय, हेतु कहना बस मानो ।
कहा कृष्ण ने मुझे, जानकर भी मानोगे ।
प्रतिभटता या पुनः हमारे प्रति ठानोगे ।।०८।।

कहाँ छिपे हो कृष्ण, हमारे सम्मुख आओ ।
शप्त और उत्तप्त, दीन जन को समझाओ ।
वीते पाँच हजार वर्ष दो शतक दीर्घतर ।
करुणा अव है जगी रे पातकी जीव पर ।।०६।।

जाना होता प्रभो, तुम्हें सम्यक[५] द्वापर में ।
नहीं भटकता द्रौणि, भूमि पर काल अपर में ।
तुमको सकता जान, कौन जब तक न जनाओ ।
मायावश सब जीव, तुम्हीं मायेश कहाओ ।।१०।।

बल विद्या का गर्व, और संगति मानी की ।
मैत्री उतनी गहन, विक्रमी उस दानी की ।
छल पाण्डवकृत और पराजय अपने नृप की ।
कृतवर्मा - सहयोग, छत्र छाया श्री कृप की ।।११।।

द्रुपदात्मजकृत पाप, पुनः वह स्नेह पिता का ।
रोदन करुण अतीव, शरद्वत की दुहिता का ।
बना गया पशु मुझे, क्रूर हिंसक प्रतिशोधी ।
द्वेष्य[६] बना वह व्यक्ति, हुआ जो भी प्रतिरोधी ।।१२।।

बीत गयी वह निशा, उठा तम का अवगुण्ठन[७] ।
द्रवित कर गया मुझे, करुण क्रन्दन भूलुण्ठन ।
हुआ पराजित असुर, शीघ्र ही मेरे मन का ।
समझा क्रमशः अर्थ, धरा पर जीवन धन का ।।१३।।

यदि हो मूढ़ा बुद्धि, ध्वंस फिर बहुत सरल है ।
सर्जन कौशल किन्तु, जगत में बहुत विरल है ।
आओ केशव पुनः मनोहर वह छवि धर कर ।
प्यासे हैं ये नयन, देख लूँ अब जी भर कर ।।१४।।

कोटि अर्क सम तेज, किन्तु होता उर शीतल ।
देख तुम्हें हे कृष्ण, कृष्णता त्याग महीतल ।
हो जाता गोलोक, लोकहितधृतशुभकाया ।
फिर क्यों हे मायेश[८], शासिका जग में माया ।।१५।।

मम विषाद अति गहन, कृष्ण तुम ही अनुमानो ।
इस पीड़ा का दंश, अंश भर तो पहचानो ।
आयत[९] है अति कथा, व्यथा का कोई श्रोता ।
मिला न अब तक हन्त, फिरूँ निर्जन में रोता ।।१६।।

गीतिका छन्द

कौन सा साधा प्रयोजन, अरे किन्तु त्रिवर्ग[१०] में ।
मिला अपयश ही चिरन्तन, मनुजता उत्सर्ग में ।
विप्र जन के लिए होता, लक्ष्य बस अप[११] वर्ग का ।
हो गया च्युत सर्वथा मैं, अब सहारा भर्ग[१२] का ।।१७।।

किया बन कर शस्त्रधारी, आचरण पर धर्म का ।
भोगता हूँ दण्ड निरवधि, क्या उसी दुष्कर्म का ।
धनुर्भृत बन गया केवल, त्याग पथ तप त्याग का ।
बना नरमेदी न भाया, धूम्र सुरभित याग का ।।१८।।

अरणियों[१३] से अग्नि दीपन, उचित था मुझको सदा ।
किन्तु आग्नेयास्त्र छोड़े, वृत्ति थी रण दुर्मदा ।
कृष्णवर्त्मा[१४] को न मोदित, किया पावन हव्य से ।
कृष्णवर्त्मा[१५] बन गया हूँ, कृष्ण गिर कुल भव्य से ।।१९।।

लड़ रहा हूँ अनय के हित, तथ्य यद्यपि जानकर ।
रत रहा अरि जीतने में, वीर निज को मानकर ।
आत्म-जय-पीयूष से भी, कुछ न मम परिचय हुआ ।
किन्तु आज विलोक तुमको, दीप्ति ने उर को छुआ ।।२०।।

था स्त्रुवा होना उचित, जिस हाथ में शित खंग था ।
चन्दनोचित गात्र था पर, रुधिर रञ्जित अंग था ।
दुर्वचन थे जीभ पर क्या, थीं ऋचाएं वेद की ।
कहाँ तक बातें बताऊँ, कृष्ण अपने खेद की ।।२१।।

कृष्ण -

जनक जननी वे तुम्हारे, अयोनिज दम्पत्ति थे ।
इस धरा पर दिव्यता की, तात वे सम्पत्ति थे ।
और उनके पूत जीवन, के तुम्हीं आधार थे ।
ज्ञान गरिमा शील नय तप, मृदुलता के सार थे ।।२२।।

राजभक्ति विशेष प्रेरित, असत के साथी बने ।
पतन पथ गंतव्य जिसका, मूढ़ एक रथी बने ।
यदपि निर्णय था तुम्हारे, पिता का भी तो यही ।
तदपि वे निष्पाप थे, यह जानती सारी मही ।।२३।।

लड़े वे प्रति पक्ष में पर पाण्डवों के नाश की ।
कामना उनकी नहीं थी, कभी धर्म विनाश की ।
शास्त्र धारी थे स्वयं, वे धनुर्वेदाचार्य थे।
सभी गुण उनके तुम्हें भी, कृपीसुत! आचार्य[१६] थे ।।२४।।

शस्त्र धारण नहीं अपने, आप में कुछ दोष है।
बुद्धि में जब तक मनुज की, सद्विवेकी कोश है।
कर्म साधु असाधु होते, हैं सदा अभिप्राय से ।
सूक्ष्म रेखा बाँटती है, न्याय को अन्याय से ।।२५।।

जगत वंदित भी क्रिया, यदि स्वार्थमय है हेय है ।
लोक हितकारी अवर भी कर्म वहुशः गेय है ।
अहंता ममता विना कृत, विहित - कर्म महान है ।
कर्मबन्ध-विनाशसाधक, सूत्रमय यह ज्ञान है ।।२६।।

धारते थे परशु भार्गव, अस्त्र - विद्या - धाम थे ।
ब्रह्म - विद्या के उदधि थे, राम दुस्सहधाम थे ।
हो गए सन्नद्ध जब वे, पिता - वध - प्रतिकार को।
हर रहे थे वस्तुत : वे विषम भूतल भार को ।।२७।।

क्षत्र हीना क्षिति करी, क्षय किया अत्याचार का ।
लिया था प्रतिशोध दारुण, पिता प्रति अपकार का ।
व्यक्तिगत अपराध था वह, व्यक्तिगत ही क्रोध था ।
लोकहित साधन इसी से, करें उनको बोध था ।।२८।।

नहीं सत्ताधीश कोई, चूर हो अभिमान में ।
निरत हो भय त्याग, ज्ञानी गुणी के अपमान में ।
यही करने को सुनिश्चित, परशु लोहित कर लिया ।
आततायी कर निषूदित[१७], भार भू का हर लिया ।।२९।।

शस्त्रधारी धनुर्वेदी, दिव्य - आयुध - वान हो ।
मनस्वी हो आशु - कोपी, और अति बलवान हो ।
साथ देना भी नृपति का, नहीं कुछ अपराध था ।
पाण्डवों के प्रति तुम्हारा, भी सदा अनुराग था ।।३०।।

युद्ध में विक्रम दिखाया, लक्षशः रिपु मार कर ।
किन्तु पीछे भी हटे हो, पार्थ से तुम हार कर ।
पिता-वध से क्रुद्ध होकर त्याग सहज विवेक को ।
अस्त्र नारायण प्रयोगज, नाश के अतिरेक को ।।३१।।

नहीं कुछ भी मानता हूँ, दोष तव आचार में ।
है प्रकृत[१८] यह कृत्यक्रम, रण के विषम व्यापार में ।
रात्रि रण भी छिड़ चुका था, सिंधुराज[१९] - निपात से ।
और माया हुई प्रचलित, भीम - सुत के हाथ से ।।३२।।

वीरवर मारे गए खर, शर चलाकर ओट से ।
धर्मध्वज नर का भरा था, मन कभी तो खोट से ।
रण-विरत सन्यस्त-आयुध, ध्यान-पर बलवीर भी ।
निहत होते देखता था, धर्मव्रत रणधीर भी ।।३३।।

देख राजा की दशा तुम, अति व्यथातुर हो गए ।
घोरतम प्रतिशोध को, सहसा समातुर हो गए ।
सैन्य बल कुछ था नहीं, तब दिया आदर युक्ति को ।
किया भीषण नाश छोड़ो, अब दुखद पुनरुक्ति को ।।३४।।

चढ़े सहसा शत्रु पर जब, सभी सुप्त प्रमत्त थे ।
किया दारुण कर्म तुमने, क्रोध में उन्मत्त थे ।
किन्तु इसको भी न पातक, द्रौणि मैं कुछ मानता ।
कालवश थे वीर वे सब तत्व मैं हूँ जानता ।।३५।।

तुम्हीं सोचो भोज कृप भी, तो तुम्हारे साथ थे ।
रुधिर से गहरे रंगे, उन वीर द्वय के हाथ थे ।
बने वे दोनों नहीं क्यों, लक्ष्य मेरे रोष के ।
तुम्हीं क्यों भागी बनाए, गए सारे दोष के ।।३६।।

तो सुनों वे पालते थे, मात्र क्षत्रिय धर्म को।
तुम्हारे हित कर रहे थे, अवसरोचित कर्म को।
कृप बनाए गए गुरुवर, परीक्षित के मान से ।
गया कृतवर्मा पुरी को, समर्चित सम्मान से ।।३७।।

ज्ञात है सब वृत्त मुझको, रहे गर्हित[२०] तुम वृथा ।
लोक ने गढ़ ली भयानक, शिविर क्षय पर यह कथा।
तथ्य है यह मात्र पार्षत्, उत्तमौजा सुप्त थे ।
जब जगाया तात तुमने, धैर्य उनके लुप्त थे।।३८।।

कृत्य कर वचनीय[२१] वैसा, द्रुपद अङ्गज[२२] भीत था ।
द्रौणि विग्रह काल का ही, उसे नित्य प्रतीत था।
देखकर तुमको अचानक, मूढ़ सा वह हो गया ।
तुच्छ कर प्रतिकार कुछ क्षण, वीर चिर को सो गया ।।३९।।

उत्तमौजा भी उठा जब, घोर सुन ललकार को ।
नियन्त्रित कुछ कर रहा था, भीति के उद्गार को।
मर्म भेदी मार खा कर, भू लुठित हो मर गया ।
बिना अस्त्र प्रयोग के ही, द्रौणि विक्रम कर गया ।।४०।।

नाद सुनकर सकल योद्धा, वहाँ क्रमशः जग गये ।
शत्रु के प्रतिकार में वे, प्राण पण से लग गये ।
हुआ सङ्कुल युद्ध जो वह, दृश्य परम विचित्र था।
मित्र थे बहुसंख्य उनका, एक मात्र अमित्र[२३] था ।।४१।।

रुद्रदत्ता शक्ति से तुम, हुए अपराजेय थे ।
स्वयं भी बल और कौशल, में सदा अप्रमेय थे ।
लड़े एकाकी शिविर में, सकल बल मर्दित किया ।
किन्तु अपयश भार तुमने, भाग्य वश अर्जित किया ।।४२।।

ढो चुके हो तात मिथ्या, लोक के अपवाद को ।
प्राप्त तुम होते रहे, चिरकाल तक अवसाद को ।
नहीं निद्रामग्न योद्धा, - निषूदन तुम विप्र हो ।
छा गयी पर अज्ञता, इतिहास पर अति क्षिप्र हो ।।४३।।

चलाया ब्रह्मास्त्र तुमने, पाण्डुसुत क्षय के लिए ।
क्षम्य था वह कृत्य भी, आसन्न तव भय के लिए ।
किन्तु पातक पंक में निज, जीव को लेपित किया ।
उत्तरा के गर्भ पर जब, शस्त्र वह क्षेपित किया ।।४४।।

कार्य था दुष्कर किसे विश्वास हो कैसे भला ।
बात फैलायी कि काटा, सुप्त रथियों का गला ।
इस तरह तव शौर्य निन्दित, हे! कृपीसुत हो गया ।
और अर्भक दलन से यश, जगत में सब खो गया ।।४५।।

गर्भ शय्या में अमलता, मसृणता की मूर्ति सा ।
मनुजता के ह्रास की वह, निरागस[२४] प्रतिपूर्ति सा ।
आगमन भी नहीं वसुधा पर, हुआ जिस जीव का ।
बना रिपुता लक्ष्य कैसे, आपसे बलसीव का ।।४६।।

कर गये थे एक क्षण में, महा पातक घोर तुम ।
छू चुके थे दनुजता की, क्रूरता का छोर तुम ।
जो मुझे भी व्यथित कर दे, घृणित वह दुष्कर्म था ।
त्वरित दण्ड विधान मेरा, उस समय बस धर्म था ।।४७।।

शाप वश व्रण गन्धमय वपु, विवश तुम ढोते रहे ।
फिरे एकाकी विजन में, विकल हो रोते रहे ।
युगों से तुमको लगे वे, वर्ष तीन सहस्र थे ।
क्योंकि दैहिक मानसिक दुःख गहन और अजस्र थे ।।४८।।

राधिका छन्द

अब शोक करो मत, प्यारे अश्वत्थामा ।
मुझको प्रिय हो तुम, जैसे रहे सुदामा ।
निष्पाप हुए परिताप, अनल में जलकर ।
मिश्रित सुवर्ण निकले, ज्यों कुन्दन बनकर ।।४६।।

रोला छन्द **अश्वत्थामा**

कहा धरुँगा नहीं, शस्त्र कुरुक्षेत्री रण में ।
क्या सुस्थिर रह सके, आप अपने ही प्रण में ।
सबका बनकर काल, ग्रसे जिसने सव नर थे ।
था क्या तुमसे भिन्न, मृषा योधी कर शर थे ।।५०।।

हम जैसे रह गये, मात्र तन स्थूल विदारक ।
फिर भी माने गये, जगत में पीड़ाकारक ।
हरि हरते हैं आप, सूक्ष्म कारण तन को भी ।
कहलाते करुणा वरुणालय[२५] जग में तो भी ।।५१।।

एक अनघ पर वार, कर गया तुमको विचलित ।
दिया शाप दीर्धावधि, वपु रहता था विगलित ।
किया द्रौणि पर कोप, नहीं कुछ क्षोभ मुरारे ।
अपमार्जित[२६] भवदीय, कृपा से पाप हमारे ।।५२।।

किए लक्षशः दग्ध, निरागस कलि में मानव ।
रहे अदण्डित प्रभो, कथंविधि कायर दानव ।
बोले मध्वरि पतन, उच्च का ही खलता है ।
करती दण्डित प्रकृति, इतर जन की खलता है ।।५३।।

श्रीकृष्ण

मैं ही था कुरु धरा, और चतुरंग वाहिनी ।
मैं ही था सब अस्त्र, बहा बन रुधिर वाहिनी ।
मैं ही था बल, शौर्य कुशलता मन्त्र शक्ति भी ।
मैं ही योधन कर्म, युद्ध से दृढ़ विरक्ति भी ।।५४।।

मैं ही था जयघोष, विकल अवलाजन क्रन्दन ।
धर्म स्थापन हेतु, किया रण का अभिनन्दन ।
उद्धत यदुकुल नाश, विलोका निस्पृह होकर ।
हुआ अविग्रह[२७] पुनः, धर्म के तंतु सँजोकर ।।५५।।

छोड़ो सब कल्पना, न जेताजित था कोई ।
कहाँ प्रलय? यह प्रकृति, मात्र कुछ दिन थी सोई ।
धराबद्ध शर्वरी, रात्रि रवि में क्या होती ।
छिप जाती अभिव्यक्ति, चेतना द्रौणि न खोती ।।५६।।

पुनः व्यक्ति[२८] की उर्मि, उठी संसृति जलनिधि में ।
विधि[२९] मानस लग गया, पुनः सर्जन की विधि में ।
तुम चिर सञ्चित दिव्य, ज्ञान के विशद कोश हो ।
तुम से पा नेतृत्व, मनुजता क्यों सदोष हो ।।५७।।

राधिका छन्द

सब प्रिय हैं मुझे, अंश वे मैं अंशी हूँ ।
फूँकता प्रकृति की, भूत - मयी वंशी हूँ ।
मानस हो सकते मलिन, जीव निष्कल है ।
है सत्य यही सब, इतर ज्ञान निष्फल है ।।५८।।

रज पूरित हो या पंकिल, गात्र तनय का ।
अनुभव करता जब, बाल किसी भी भय का ।
उसकी पुकार सुन माँ, दौड़ी आती है ।
पंकिलता पर तब, दृष्टि नहीं जाती है ।।५९।।

अतएवं विकलता त्याग, आत्म पहचानो ।
मन बुद्धि देह करणों[३०] को, आत्म न मानो ।
तुम चिन्मय आभा युक्त, प्रशान्त विरज हो ।
अमृत हो तुम क्यों, त्याग रहे धीरज हो ।।६०।।

आवेग निराशा और, कोप का था वह ।
क्षण शोध - पिपासा, ज्ञान - लोप का था वह ।
नृप - भक्ति पिता का स्नेह, विकृत कर बैठा ।
कुछ दैव प्रेरणा से, विचार वह पैठा ।।६२।।

कर्तापन का अभिमान, बड़ा है घातक ।
अज्ञता जन्य ढो रहे, आज तक पातक ।
हे! कृपी तनय निज पर तो कृपा करो तुम ।
हीनता भाव मत उर में, वृथा भरो तुम ।।६३।।

प्राणी प्रायः सब, भूल यही करते हैं ।
जन्मते धरा पर, बार बार मरते हैं ।
गुण-गण महिमा है, कार्य प्रकृति में होते ।
पर जीव स्वयं में, मान व्यर्थ ही रोते ।।६४।।

चेतन निष्क्रिय निज महिमा में ही स्थित है ।
उससे पा सत्ता स्फूर्ति, प्रकृति गति युत है ।
कोई भी विकृति न, उसको छू पाती है ।
छाया न मुकुर को मैला कर पाती है ।।६५।।

निर्लिप्त सदा तुम हो, केवल द्रष्टा हो ।
बस अहंकार - वश तुम, कल्पित सृष्टा हो ।
कर्तृत्व ओढ़ कर क्या, तुमने पाया है ।
कोटिधा[३१] वेदना क्षण, को दोहराया है ।।६६।।

भटकाव बहुत तुमने अब तक है झेला ।
देखा मायाकृत रंग रूप का मेला ।
उत्थान-पतन धरती पर बहुत विलोके ।
परिवर्तन देखे अद्‌भुत और अनोखे ।।६७।।

देखा उत्पत्ति विकास नाश संस्कृति का ।
परिवर्तन परम अवार्य रूप आकृति का ।
जब है प्रत्यक्ष तुम्हें सबकी नश्वरता ।
इनके हित क्यों हे कृती! तुम्हें आतुरता ।।६८।।

प्रति क्षण परिवर्तन ही संसार कहाता ।
यह बस प्रवाह सातत्य[३२] दृष्टि में आता ।
आता अदृश्य से फिर अदृश्य में खोता ।
पर चित्त मनुज का इसमें स्वप्न सँजोता ।।६६।।

है यहाँ वस्तु की जो आभासी सत्ता ।
पर-माण्विक संयोगों की मात्र महत्ता ।
पार्थक्य पदार्थों का न मात्र योगों का ।
जीवों को आमंत्रण देता भोगों का ।।७०।।

विश्लेषण यदि इससे आगे जाएगा ।
तो तू पदार्थ को भी न यहाँ पाएगा ।
होगी न दृष्टि जब रज तम से तव मैली ।
शक्ति ही दिखेगी दिव्य चतुर्दिक फैली ।।७१।।

अष्टधा[३३] प्रकृति अपरा कह कर समझायी ।
जीवों की मैंने प्रकृति परा बतलायी ।
यह भेद मात्र अवबोधन का उपक्रम है।
सर्वत्र व्याप्त बस मेरा ही विक्रम है ।।७२।।

उद्धव से मैंने कहा पुनः कहता हूँ ।
आद्यन्त मध्य मैं सर्जन के रहता हूँ ।
सर्वत्र व्याप्त रहती मेरी ही सत्ता ।
मुझसे न भिन्न कुछ भी है यहाँ इयत्ता ।।७३।।

अश्वत्थामा

सर्गान्त काल में होते जब एकाकी ।
लय होती जब निःशेषा प्रकृति वराकी[३४] ।
तब हे प्रभु मन आपका भी न रमता है ।
संकल्प बहुल हो जाने का जगता है ।।७४।।

आप भी न रमते विभो बिना क्रीड़ा के ।
साक्षी हैं इस एकाकी की पीड़ा के ।
अब अन्त करो इस याम रहित यामा[३५] का ।
हो मेल विभा से इस दुरूह श्यामा का ।।७५।।

दे दो प्रभु धरती को प्राणी वे प्यारे ।
वन उपवन फिर से हों जीवन्त हमारे ।
यह निर्वसना भू फिर परिधानवती हो ।
वसुमती[३६] बने यह फिर से धान्यवती हो ।।७६।।

गुञ्जित हों कानन विहग वृन्द कलरव से ।
मर्मरित अनवरत तट हों मृदु कल कल से ।
सरिताएं सर सब स्वच्छ सार[३७] संयुत हों ।
बहु वर्ण प्रसूनज छटा परम अद्भुत हो ।।७७।।

जल चर फिर से कर उठें नीर में क्रीड़ा ।
फिर से न जगत झेले विनाश की व्रीड़ा[३८] ।
पीड़ा अतीत की किन्तु न नरता भूले ।
सौहार्द्र सुमन शुभ रुप अमल फिर फूले ।।७८।।

सौरभ वाही शुभ शीतल शुद्ध पवन हो ।
आलोकित मृदु आभा से निखिल भुवन हो ।
हिम चादर कफन समान भूमि अब छोड़े ।
उर्वरा भूमि हो मुक्त सुप्ति चिर तोड़े ।।७९।।

अल्पज्ञ मनुज फिर से न ज्ञान दर्पित हो ।
बालक निसर्ग का ही रह कर हर्षित हो ।
स्वामी न प्रकृति का बनने की वह ठाने ।
मस्तिष्क दास मत बने हृदय की माने ।।८०।।

श्रीकृष्ण

अश्वत्थामन् मत पड़ो मोह में भारी ।
निर्जीव तुम्हें दिखती संसृति यह सारी ।
भौतिक शरीर ही अभी काल भक्षित हैं ।
संस्कारबीज पर पूर्णतया रक्षित हैं ।।८१।।

जीवात्मा तो ध्रुव अमल और अक्रिय है ।
जिसकी सत्ता से सकल प्रकृति सक्रिय है ।
विक्रिया - हीन चेतन मेरी ही छाया ।
यह तथ्य द्रोणसुत तुमने क्यों बिसराया ।।८२।।

पर अभी घाव मानव-कृत तो भरने दो ।
विश्राम प्रकृति जननी को कुछ करने दो ।
चुक गयी सर्जना शक्ति समय लगना है ।
हो स्वस्थ इसे फिर सर्जनार्थ जगना है ।।८३।।

मनु बनना है तुमको इस नव सर्जन में ।
तप करो लगी जब प्रकृति शक्ति अर्जन में ।
नव सृष्टि तुम्हारी उंगली पकड़ चलेगी ।
वात्सल्य सुधा से उर गगरी छलकेगी ।।८५।।

तुम पन्थ दिखाना उसको शुभ श्रेयस्कर ।
होगा वह उद्यम ऋषे अपूर्व यशस्कर ।
करना चिर सञ्चित ज्ञान राशि का वितरण ।
ज्ञानार्क! भूति मय करना तुम कर विसरण ।।८६।।

सर्वज्ञ करो मत ऋषि कह कर सम्वोधित ।
हीनता भाव इससे होता अवबोधित ।
अब तक भी क्या मन हो पाया निर्मल है ।
मद मोह न अब तक गये दया दुर्वल है ।।८७।।

करुणा वल्ली भी अब तक नहीं प्ररुढ़ा[३६] ।
भावना बोध से लज्जित रही अनूढ़ा[४०] ।
रोषणा और प्रतिहिंसा मरी नहीं है ।
आभा से भरी अभी उर दरी[४१] नहीं है ।।८८।।

घनाक्षरी

विस्मृति के यत्न सारे होते हैं विफल नित्य,
मन में विचार यही बार बार आता है ।
छोड़ ढोंग छोड़ साधुता का अरे द्रोण पुत्र
क्रूरता से तेरा आदि काल से ही नाता है ।
घोर रणनीति शठता भरी अतीव निन्द्य,
उत्सुक मनुष्य को तू ही सिखलाता है ।
सुप्त पड़े वीर और गर्भ भी अवध्य नहीं,
प्रतिशोध को नवीन राह दिखलाता है ।।८६।।

रहा हो अजात[४२] शत्रु द्वापर से युग मध्य,
कैसे वो अजात[४३] शत्रु आज वन पाएगा ।
हिंसा प्रतिमान वैर विग्रह रहा जो घोर,
ऐसा नर कैसे करुणा का धन पाएगा ।
ऋजुता की बात जैसे करे नागराज यहाँ,
सिंह ही अहिंसना का पाठ क्या पढ़ाएगा ।
पाखण्ड करने का साहस नहीं है कृष्ण,
द्रोण पुत्र मात्र गुरु गौरव नशाएगा ।।६०।।

सार छन्द

श्रीकृष्ण

श्वेत श्याम अम्बुद प्रावृट[४४] में, घिरते मिट जाते हैं ।
किन्तु व्योम पर क्या अपनी वे, छाप छोड़ पाते हैं ।
शिव या अशिव विचार स्वतः यदि, मानस में आते हैं ।
दृष्टा रहो तटस्थ तिरोहित, वे सब हो जाते हैं ।।६१।।

परावैंगनी जो किरणें यह, देह बेध जाती हैं ।
मज्जा मांस रुधिर से क्या वे, लेपित हो जातीं हैं ।
शुभ हो या कि शुभेतर रवि सब, वस्तु प्रकाशित करता ।
क्या पदार्थगत गुण दोषों को, भानु स्वयं में धरता ।।६२।।

साधु असाधु उभय दीपक का, नित सहाय लेते हैं ।
पाप पुण्य का अंश किन्तु क्या, दीपक को देते हैं ।
निर्लिप्तता अतः चेतन की, करो तात अवधारित ।
भूरि भेद भ्रमजाल चित्त का, होगा तव अपसारित ।।६३।।

राधिका छन्द

दर्पण के बहु खण्डों में यदि प्रतिविम्वित ।
तो क्या सविता होता यथार्थ में खण्डित ।
श्वासों में भूतों के प्रविष्ट होती है ।
तो प्राण शक्ति क्या व्यापकता खोती है ।।६४।।

देती प्रकाश शीतलता पहुँचाती है ।
ऊष्मा बनती चुम्बक फिर बन जाती है ।
उस बहुरुपिणि को तुम विद्युत कहते हो ।
उसकी न पृथकता के भ्रम में रहते हो ।।६५।।

जिस ऊर्जा ने यह खड़ा प्रपञ्च किया है ।
पञ्चीकृत भूतों का यह दृश्य दिया है ।
उस एक शक्ति को तात करो अवबोधित है ।
जागो त्यागो दुःस्वप्न उठो उद्‌बोधित ।।६६।।

सार छन्द

जब जानोगे सकल दृश्यगत, परिणामी नश्वर है ।
तुमसे भिन्न सभी कुछ जग में, भ्राम्यमान गत्वर है ।
तुम चेतन अखण्ड व्यापक हो, ध्रुव अविकृत अविनाशी ।
भूत वर्ग के एक मात्र तुम, संचालक अधिशासी ।।९७।।

सब कुछ है जब एक त्याज्य फिर, और ग्राह्य क्या जग में ।
उदासीनवत् चलो तात तुम, सुख दुखमय इस मग में ।
किससे प्रीति बढ़ाओगे फिर, किससे मुँह मोड़ोगे ।
उठो तोड़ दुःस्वप्न द्रौणि तुम, कव निद्रा छोड़ोगे ।।९८।।

त्यागो सब नैराश्य दीनता, हीन भाव पछतावा ।
मायाकृत विस्तार संकुचन, सर्जन मात्र छलावा ।
नहीं सोहती भावी गुरु मुख, पर विषाद की छाया ।
नव सर्जन का समय निकटतर, पुरुष सिंह है आया ।९९।।

तुम चिरजीवी हो अतीत जीवी, वन दुःख मत झेलो ।
मुझ पर सब कुछ छोड़ बालवत्, प्रकृति अङ्क में खेलो ।
पश्चिम दिशाबद्ध नयनों से, देख रहे अस्ताचल ।
अब मुँह फेरो होने को है, अरुण उच्च उदयाचल ।।१००।।

नहीं अकेले हो जगती पर, सप्त यहाँ चिरजीवी ।
जिनकी ज्ञान सम्पदा का नर, होगा फिर उपजीवी ।
जाओ वत्स महेन्द्राचल पर, भार्गव[४५] से वर पाना ।
मंगल हो सब भांति सफल हो, इस धरणी पर आना ।।१०१।।

सन्दर्भ सूची

१. पीड़ादायी, २. लहर, ३. समय सीमा से रहित, ४. पापी, ५. भली प्रकार, ६. शत्रु, ७. घूँघट, ८. माया के स्वामी ईश्वर, ६. लम्बी, १०. धर्म अर्थ काम, ११. मोक्ष, १२. शिवजी, १३. लकड़ी जिसके घर्षण से अग्नि प्रदीप्त की जाती थी, १४. अग्नि, १५. कालिमा युक्त मार्ग का पथिक, १६. आचरणीय, १७. मारकर, १८. स्वाभाविक, १६. जयद्रथ, २०. निन्दित, २१. निन्दायोग्य, २२. पुत्र, २३. शत्रु, २४. निष्पाप, २५. समुद्र, २६. प्रक्षालित, २७. शरीर रहित, २८. अभिव्यक्ति, २६. ब्रह्मा, ३०. इन्द्रियों, ३१. करोड़ों वार, ३२. निरन्तरता, ३३. आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पंच महाभूत तथा मन बुद्धि व अहंकार, ३४. वेचारी, ३५. रात्रि, ३६. धन जल से युक्त, ३७. जल, ३८. लज्ञा, ३६. बढ़ी हुई, ४०. अविवाहित, ४१. गुफा, ४२. जो पैदा भी नहीं हुआ उसका भी शत्रु, ४३. जिसका कोई शत्रु न हो, ४४. वर्षा ऋतु, ४५. परशुराम।